इकाई 18 विधि एवं न्यायिक पद्धति

इकाई की रूपरेखा

18.1 प्रस्तावना

18.2 विधि के स्रोत

18.3 विधि का वर्गीकरण

18.4 न्याय प्रशासन

18.5 सारांश

18.6 अभ्यास

18.1 प्रस्तावना

विधि या कानून का शुरुआती सिद्धांत ऋग्वेद के 'ऋत' शब्द में पाया जाता है। इस शब्द का अर्थ था सर्वोच्च लोकोत्तर कानून या आदेश, जो पूरे विश्व पर लागू होता था और जिसमें देवता भी निष्ठा रखते थे। इसके बाद 'धर्म' ने 'ऋत' की जगह ली। हालाँकि स्मृति साहित्य में धर्म का मतलब विधि था, लेकिन यह सदाचार व नैतिकता से अलग नहीं था। केन के मुताबिक, 'धर्म शब्द के अर्थ में कई बदलाव आए, यह मनुष्य के विशेषाधिकारों, कर्त्तव्य व दायित्व एवं जाति का सदस्य तथा जीवन के किसी चरण में होने की वजह से मनुष्य व्यवहार के स्तर को इंगित करता था।

वैदिक साहित्य में धर्म को कानून और रिवाजों से जोड़ा गया। महाभारत में 'धर्म' में राजधर्म (राजा का धर्म), प्रजा धर्म (प्रजा का धर्म) और मित्र का धर्म (मित्र धर्म) आदि कर्त्तव्य दिए गए हैं। धर्म की सर्वोच्चता को बनाए रखना व्यवहार पर निर्भर था जो अंग्रेज़ी में विधि के नाम से जाना जाता है। अनेक टीकाकारों द्वारा यह प्रमाणों पर आधारित था तथा इससे शंकाएँ दूर होती थीं। इसकी परिभाषा के अंतर्गत अनौपचारिक विधि; न्यायिक तरीका तथा न्याय प्रशासन आते हैं। प्राचीन भारत के संदर्भ में धर्म केवल धार्मिक विश्वास से जुड़ा नहीं था अपितु सामाजिक-नैतिक तथा धार्मिक विचारों की अभिव्यक्ति था। इस इकाई में प्राचीन भारत में विधि के स्रोतों, विधि की श्रेणियों तथा न्याय प्रशासन के बारे में बताया गया है।

18.2 विधि के स्रोत

विधि (कानून) के स्रोत के लिए हमें मनु को आधार मानना होगा। मनु ने धर्म की व्याख्या ऐसे की है – संपूर्ण वेद धर्म का स्रोत है, फिर परंपरा (स्मृति) है और उनकी परंपरा व व्यवहार, जो वेद को जानते हैं और पवित्र व्यक्तियों के रिवाज तथा अंत में अपना संतोष (II-6)।

मेधातिथि एवं याज्ञवल्क्य मनु से सहमत थे। अत: धर्म के मान्यताप्राप्त स्रोत तीन हैं : श्रुति से उत्पन्न, अर्थात् वेद, स्मृति से उत्पन्न धर्मशास्त्र (स्मृता), और सदाचार (सद्गुणों वाले व्यक्तियों का व्यवहार जो वेद जानते थे)। हालाँकि कौटिल्य ने कानून के चार अंग बताए हैं – धर्म (पवित्र कानून), व्यवहार (अनुबंध), चरित्र (रिवाज़) और राजा का शासन (शाही आदेश)। बाद वाले पदानुक्रम में ऊपर है (धर्माश्च व्यवहारश्च चरित्रम् राजशासन विवदर्थ पश्चिम पूरब-बढेका)। अत: राजा ही विधि को लागू करने वाली सबसे बड़ी शक्ति थी। नारद द्वारा दी गई विधि को लागू करने के लिए राजा सबसे बड़ा होता था। नारद (1:10) द्वारा दिए विधि के चार स्रोत कौटिल्य द्वारा दिए स्रोतों के समान हैं।

बृहस्पति के व्याख्या करने वाले कथन कौटिल्य व नारद के कथन को स्पष्ट करते हैं। बृहस्पति के मुताबिक (1.19-21, IX.2-7) जब निर्णय, प्रतिवादी द्वारा शपथ के आधार पर होता था, उसे 'धर्म' कहते थे, जब निर्णय शास्त्र या साक्ष्य या जिरह पर लिए जाते थे, उसे 'व्यवहार' कहते थे। जब निर्णय अनुमान या व्यवहार या प्रचलन के आधार पर लिए जाते थे उसे 'चरित्र' कहते थे और वह विवादित मामला जो राजा (जो न तो शास्त्र के खिलाफ हो और न ही सभ्य के मत के खिलाफ हो) द्वारा लिया जाता था उसे राजाजन कहते थे, यह आदेश स्थानीय रिवाज़ों के ऊपर होता है। ध्यान देने वाली बात है कि व्यवहार, जिसके अंतर्गत साक्ष्य पर आधारित दस्तावेज़ आते थे, को कानून का स्रोत नहीं माना जा सकता है। बिक्री करना या गिरवी रखना जैसे सौदे, में इसका ध्यान दिया जाता था कि दस्तावेज़ शास्त्र नियम या स्थानीय रिवाज़ों या दोनों से मेल खाता है या नहीं। सामान्यत: कानून के तीन स्रोतों को स्वीकार किया गया है – श्रोत, स्मृता व सदाचार।

कई विषयों पर मुकदमेबाजी की जा सकती थी। मनु ने विधि के 18 शीर्षकों की सूची दी है (व्यवहार पद), जिस पर याज्ञवल्क्य, नारद व बृहस्पति सहमत थे। ये निम्न हैं :

1) ऋण नहीं चुकाना
2) जमा व प्रण
3) बिना स्वामित्व बिक्री
4) साझेदारों की चिन्ताएँ
5) उपहारों का अमान्यकरण
6) मज़दूरी न देना
7) करार का पालन न करना
8) खरीद-बिक्री रद्द करना
9) मालिक (पशुओं का) व उसके नौकरों में मतभेद
10) सीमा को लेकर विवाद
11) प्रहार
12) मानहानि
13) चोरी
14) डकैती एवं हिंसा
15) अवैध संबंध रखना
16) पति व पत्नी का कर्त्तव्य
17) बँटवारा (विरासत)
18) जुआ एवं सट्टा

मेधातिथि तथा कुलुका स्पष्ट करते हैं कि ये 18 विषयों की सूची सम्पूर्ण नहीं है। इसका कारण यह है कि समय के साथ समाज जटिल हो गया था तथा मुकदमेबाजी के कारणों में बढ़ोतरी हुई। इसी प्रकार धर्मसूत्रों में कानून के कुछ विषयों की विवेचना की गई है, जैसे अवैध संबंध, चोरी, मानहानि, विरासत। हमें विधि के अन्य विषय नहीं मिलते क्योंकि समाज धर्मसूत्र के समय में सरल प्रकृति का था। धर्मसूत्रों में नागरिक एवं आपराधिक कानून के धीमे विकास के विषय में पता चलता है। गौतम का कथन है : 'कृषक, व्यापारी चरवाहे, महाजन तथा शिल्पकारों को अपने वर्ग के लिए नियम बनाने का अधिकार था। प्रत्येक वर्ग में जिनको बताने का अधिकार दिया गया था उनसे परिस्थितियों के बारे में जानकारी लेकर राजा कानूनी निर्णय लेता था।' इस प्रकार उभरने वाले महत्त्वपूर्ण समूहों जैसे व्यापारी, महाजन तथा शिल्पकारों को मान्यता मिली थी।

18.3 विधि का वर्गीकरण

बृहस्पति ने पहली बार स्पष्ट रूप से नागरिक एवं आपराधिक कानून के बीच अंतर स्थापित किया। कानून के 14 शीर्षक उसके अनुसार इस प्रकार थे : पैसा उधार देना, जमा करना, उपहारों का अमान्य होना, साझेदारी की [illegible]ाएँ, मज़दूरी न देना, सेवा न करना, अनुबंध का उल्लंघन, भूमि-विवाद, स्वामित्व के बग़ैर बिक्री, खरीद-बिक्री रद्द करना, पति-पत्नी के बीच संबंध, चोरी, विरासत तथा जुआ। ये नागरिक कानून के अंतर्गत आते हैं। दूसरी तरफ कानून के चार शीर्षक हैं जिसके अंतर्गत दो प्रकार के अपमान (पारुष्य), हिंसा (साहस) तथा दूसरे की पत्नी के साथ आपराधिक संबंध हैं जो दूसरे पर चोट पहुँचाने से उभरते हैं तथा इसलिए ये आपराधिक कानून के अंतर्गत आते हैं।

नागरिक कानून के विषय में मनु विस्तार से बताता है। कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। ऋण पर मासिक ब्याज जातियों के क्रम के आधार पर 2, 3, 4 या 5 प्रतिशत की दर पर स्वीकार्य था। विरासत एक महत्त्वपूर्ण विषय था तथा अनेक आकस्मिकताओं से निपटने के लिए सूक्ष्म नियम बताए गए हैं। संपत्ति का बँटवारा पिता की मृत्यु के बाद होता था तथा बड़े पुत्र को हिस्से के रूप में या तो सारी सम्पत्ति मिलती थी या अन्य भाइयों से बड़ा हिस्सा मिलता था। मनु का मानना है कि सम्पत्ति के दस वर्षों से ज़्यादा उपभोग से उस पर व्यक्ति का दावा हो जाता है। याज्ञवल्क्य का मानना है कि स्वामित्व कब्ज़े से हर मामले में श्रेष्ठ है परंतु जहाँ कब्ज़ा पूर्वजों से मिला है वह स्थिति अपवाद है। उनके अनुसार बिना स्वामित्व के कब्ज़ा होने पर दावेदारी स्थापित नहीं की जा सकती परंतु लम्बी अवधि तक बने रहने की स्थिति अपवाद है। स्वामित्व बिना कब्ज़ा हुए प्रभावशाली नहीं है। सम्पत्ति के बँटवारे के संबंध में उसका कहना है कि बँटवारा पिता के जीवनकाल अथवा मृत्यु के पश्चात् हो सकता है। सामान्यत: जब पिता सम्पत्ति का बँटवारा करता है तब सबसे बड़ा तथा उत्तम हिस्सा बड़े पुत्र को मिलता है या सब पुत्रों को बराबर का हिस्सा मिलता है। परंतु यदि बँटवारा पिता की मृत्यु के बाद होता है तो सम्पत्ति बराबर हिस्सों में सभी पुत्रों में बाँट दी जाती है जिसमें देयता तथा परिसम्पत्ति शामिल होते हैं। माता को भी बराबर हिस्सा मिलता है जैसा कि पुत्रों को मिलता है परंतु पुत्री को पुत्र का एक चौथाई हिस्सा मिलता है। इस प्रकार याज्ञवल्क्य विधवा को उत्तराधिकार का हक देते हैं, लेकिन नारद स्मृति में अलग प्रकार का वर्णन है। वे विधवा को उत्तराधिकार का हक नहीं देते, उसे अपनी मृत्यु तक सिर्फ भरण-पोषण का अधिकार मिलता है। स्मृतियों में उल्लिखित स्त्रीधन का व्युत्पत्ति-मूलक अर्थ स्त्री के कब्जे में सभी प्रकार की सम्पत्ति नहीं है, बल्कि इस परिभाषिक शब्द से विशिष्ट मौकों पर या जीवन के विभिन्न चरणों के दौरान उसके द्वारा प्राप्त कुछ विशिष्ट प्रकार की सम्पत्ति मात्र का बोध होता है। स्त्रीधन के विभिन्न प्रकारों में विवाह से संबंधित अग्नि अनुष्ठान से पहले स्त्री को जो दिया जाता है (अध्यग्नि), वैवाहिक यात्रा के समय दी गई सम्पत्ति (अध्यवहनिक), स्नेह से दी गई सम्पत्ति (प्रीतिदत्त) तथा जो भाई, बहन तथा पिता से प्राप्त होता था। कात्यायन इसमें स्त्रीधन के कुछ अन्य प्रकार जोड़ते हैं, जैसे पत्नी मूल्य (शुल्क), विवाहोपरांत ससुराल या अपने माता-पिता से मिली सम्पत्ति (अन्वधेय) एवं विवाहित स्त्री को जो पति से मिलता है, या कुँवारी स्त्री को पिता से मिली सम्पत्ति (सौदायिकी)।

परिणामस्वरूप स्त्री को विवाह से पहले मिली सभी प्रकार की सम्पत्ति (चल या अचल), विवाह के अवसर पर या विवाह के बाद अपने माता-पिता या उनके संबंधियों के परिवारों या पति तथा उसके परिवार से (पति से मिली अचल सम्पत्ति के अतिरिक्त) स्त्रीधन के दायरे में आती है। पुन: नारद के अनुसार यदि पिता सम्पत्ति का बँटवारा करे तो वह अपने लिए दो हिस्से रखकर बाकी को समान या असमान अनुपात में बाँटता है। उसकी मृत्यु के बाद यदि बँटवारा हो तो ऋण भुगतान के बाद सभी पुत्रों को समान हिस्सा मिलता है। ऋण कानून के मामले में नारद चार प्रकार के ब्याज बताते हैं : कालिक (आवर्ती), करिता (अनुबद्ध), कयिका (Corporal) तथा

चक्रवृद्धि (Compound)। अंतिम तीन की मनु ने भर्त्सना की है, परंतु गौतम धर्मसूत्र में इनका अनुमोदन किया गया है (XII.34-35)। उधार की वसूली के संबंध में चर्चा करते हुए बृहस्पति ने इस बात का ज़िक्र किया है कि ऋण देने वाला रकम के बदले में सुरक्षा के रूप में समुचित मूल्य की वस्तु गिरवी (अधि) रखवाएगा जिसमें जमा (बंध) या विश्वसनीय जमानत या अनुबंधपत्र कर्जदार ने लिखा हो या फिर गवाहों द्वारा अनुप्रमाणित हो।

इसके अलावा उन्होंने दो अन्य प्रकार के ब्याज का ज़िक्र किया है जैसे शिखा वृद्धि (बाल ब्याज) और भोगलाभ (उपभोग ब्याज) था। बाल ब्याज इसलिए भी कहते हैं क्योंकि वह बालों की वृद्धि की तरह बढ़ता है और उनके कटने तक बढ़ना बंद नहीं होता है जबकि दूसरे का आधार कृषि उत्पाद या गिरवी रखे गए घर का उपयोग है।

आपराधिक कानून के अंतर्गत जाति से संबंधित विशेषाधिकार तथा अशक्तता प्रतिबिंबित होते थे। दंड अपराधी की जाति के अनुसार तय किया जाता था और समान अपराध के लिए दंड अलग-अलग थे। एक सामान्य नियम के मुताबिक ब्राह्मणों को मृत्युदंड से छूट दी गई थी। ब्राह्मणों के लिए सबसे भीषण दंड था देश से निकाला जाना, लेकिन इसके बावजूद उसे अपने साथ सम्पत्ति ले जाने का अधिकार था। मनु के मानहानि से संबंधित कानून में जाति की भूमिका को स्पष्ट किया गया है। ब्राह्मण की मानहानि के लिए एक क्षत्रिय सौ पाना का जुर्माना देता था, वैश्य के लिए एक सौ पचास से दो सौ तक जुर्माना तय था जबकि शूद्र को शारीरिक दंड दिया जाता था। दूसरी तरफ एक ब्राह्मण को पचास पच्चीस या 12 पाना जुर्माना क्रमशः क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की मानहानि के लिए देना था। किसी ब्राह्मण की मानहानि के लिए उसी की जाति के व्यक्ति (ब्राह्मण) को 12 पाना का निर्धारित दंड देना होता था। शारीरिक चोट पहुँचाने के मामले में इसी प्रकार के अंतर को मनु ने स्पष्ट किया है। मनु कहते हैं – "यदि कोई छोटी जाति का व्यक्ति अपने जिस अंग से अपने से उच्च तीन जातियों के लोगों को चोट पहुँचाता है तो उसके उस अंग को काट भी दिया जाएगा।" अवैध संबंध के लिए विभिन्न तरह के दंड दिए जाते थे, जिनका आधार आरोपी की जाति एवं परिस्थितियाँ थीं, जिनमें अपराध होता था। दंड थे – जुर्माना, सम्पत्ति को ज़ब्त कर लेना, कैद और मृत्यु (ब्राह्मणों के अलावा सभी को)। याज्ञवल्क्य लगभग मनु के अपराध कानून से संबंधित कथन का अनुसरण करते थे, लेकिन सार्वजनिक न्याय के द्वारा अपराध के मामलों के निपटारे के विषय में उनका मत कड़ा है। उनके मुताबिक यदि कोई व्यक्ति साक्ष्य नहीं जुटा पाता तो उसे सारे ऋण के अतिरिक्त दसवाँ भाग भी देना पड़ेगा, जबकि यदि कोई तथ्यों को जानता हो, लेकिन साक्ष्य प्रस्तुत करने से मना कर दे तो उसको वही दंड मिलेगा जो एक झूठे गवाह को। नारद विभिन्न अपराधों एवं दंडों के मामले में ज़्यादा व्यवस्थित रूप से वर्णन करते हैं। चोरी को वे साहस (हिंसा) से अलग अपराध मानते हैं। नारद चोरी हुई सम्पत्ति की कीमत के मुताबिक इस अपराध को तीन श्रेणियों में बाँटते हैं। चोरी के लिए विभिन्न दंड थे जिसमें जुर्माने से लेकर शारीरिक दंड, विकृत करना तथा मृत्यु तक शामिल थे। यह दंड चोरी की गई वस्तु की मात्रा और उसकी कीमत के आधार पर तय किया जाता था। चोरी को पाप माना जाता था तथा अपने दोष स्वीकारने वाले को पाप से मुक्ति मिल जाती है। बृहस्पति भी नारद के मत को दोहराते हैं और यह भी कहते हैं कि हिंसा या चोरी के लिए अपराध की गहराई के अनुसार बिना अपराधी की जाति को ध्यान में रखकर दंड देना चाहिए।

दंड तय करने का जहाँ तक सवाल है इसमें कोई संदेह नहीं कि राजा को आपराधिक मामलों में निर्णय लेने में काफी स्वतंत्रता थी। दंड के क्रियान्वयन की प्रक्रिया में मनु एवं याज्ञवल्क्य सलाह देते हैं कि राजा को इस संबंध में कुछ बातों को ध्यान में रखना चाहिए जैसे उद्देश्य, अपराध का समय एवं स्थान तथा अपराधी द्वारा दंड सहन करने की क्षमता उसकी आयु तथा लिंग। हर मामले की परिस्थितियों के आधार पर सजा सुनाई जाती थी। सज़ा विविध प्रकार की थीं और न्यायप्रमुख होने के कारण विशेषकर राजा की इच्छा पर निर्भर थीं।

ग्रंथों की कालानुक्रमिक तालिका (धर्मशास्त्र के इतिहास के मुताबिक)

धर्मसूत्र	600 ई.पू. से 300 ई.पू.
मनुस्मृति	200 ई.पू. से 200 ई.
याज्ञवल्क्य स्मृति	100 ई. से 300 ई.
नारद स्मृति	100 ई. से 400 ई.
बृहस्पति स्मृति	300 ई. से 500 ई.
कात्यायन स्मृति	400 ई. से 600 ई.

18.4 न्याय प्रशासन

राज्य की ओर से लोगों को उपलब्ध कराई गई सुरक्षा का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा न्याय प्रशासन था। मनु (VIII.1-2) और याज्ञवल्क्य (II.1) में माना गया है कि यद्यपि राजा को सामान्यत: कानून अदालतों की अध्यक्षता करनी चाहिए लेकिन न्याय प्रक्रिया में निर्णय केवल उसके द्वारा नहीं लिया जाना चाहिए। इस तरह राजा को विद्वान ब्राह्मणों और अनुभवी पार्षदों की सेवा लेनी चाहिए। मनु के मत के मुताबिक यदि अदालत में राजा अनुपस्थित रहता है तो उसे विद्वान ब्राह्मण को अपने कर्त्तव्यों के निर्वाहन के लिए नियुक्त करना चाहिए और तीन सभ्य उसकी सहायता करने के लिए होने चाहिए। इस व्यवस्था का उल्लेख याज्ञवल्क्य और नारद में भी मिलता है। यद्यपि सभ्यों की संख्या की कोई सीमा नहीं थी। मनु (VIII.306) और याज्ञवल्क्य (I.359) कहते हैं कि न्याय देना अनुष्ठान आयोजित करने के समान है जिससे उच्चतम आध्यात्मिक लाभ होता है। बृहस्पति इस विचार को अनेक मौकों पर दोहराते हैं और वे एक कानूनी मामले (व्यवहार) को अनुष्ठान या यज्ञ रूप में मानने में हिचकिचाते नहीं हैं। अनुष्ठान के आयोजन में जैसे नियमों का निष्ठा के साथ पालन किया जाता है वैसे ही ग्रंथों में दिए गए नियमों का न्याय प्रक्रिया में पालन होना चाहिए। राजा शास्त्रों के नियमों से वैसे ही बँधा है जैसे अनुष्ठान आयोजित करने वाले उससे संबंधित नियम पुस्तिका से। परंतु राजा को हमेशा सच्चाई जानने की कोशिश करनी चाहिए और जल्दबाज़ी में कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। विधि का कोई नियम तब तक लागू नहीं होना चाहिए जब तक राजा को उस मामले की पूरी जानकारी न हो। बृहस्पति के अनुसार 'शास्त्र रूपी ग्रंथों पर निर्भर रहकर निर्णय नहीं लिया जाना चाहिए। किसी भी मामले की जाँच बिना परिस्थितियों को ध्यान में रखकर करने से धर्म को क्षति पहुँचती है।'

बृहस्पति (I.57-58) ने न्याय की चार तरह की अदालतों का ज़िक्र किया है : 1) प्रतिष्ठित, जो नगर जैसे एक निश्चित स्थान पर स्थापित होती है; 2) अप्रतिष्ठित, एक स्थान पर स्थापित नहीं होती, परंतु गतिशील होती है; 3) मुद्रित, न्यायाधीश का दरबार जो शाही मुहर का इस्तेमाल करने के लिए अधीकृत होता है; और 4) ससित और सस्रित, वह न्यायालय जिसकी अध्यक्षता राजा स्वयं करता है। इस तरह राजा ही अपने क्षेत्र का सर्वोच्च न्यायाधीश होता है और उसे अपनी प्रजा की सुरक्षा का कर्त्तव्य तथा जिम्मेदारी निभानी चाहिए, और आश्वासन देना चाहिए कि प्रजा के झगड़े न्यायपूर्ण तरीके से निपटाए जाएँगे। यह सही होगा कि उसे स्मृति लेखकों द्वारा सलाह तथा निर्देश दिए जाएँ। इन अदालतों के अलावा न्यायिक व्यवस्था के अभिन्न घटक कचहरियाँ भी थीं। याज्ञवल्क्य (II.30), बृहस्पति (I.92, 94) एवं नारद (I.7) कहते हैं कि कानूनी मुकदमों का निपटारा वरीयता के आधार पर कुल, श्रेणी, गण/पुग, न्यायाधीशों तथा राजा द्वारा किया जाता था। इन अदालतों का अधिकार क्षेत्र उन नियमों द्वारा प्रदर्शित होता है जिनके अंतर्गत कुल (परिवार), श्रेणी (व्यापारियों व शिल्पियों की सभा), गण (शिल्पियों का समूह जो आपसी सहायता पर निर्भर थे) पुग (विभिन्न जातियों के लोगों

की सभा जो विभिन्न व्यवसायों में लगे थे, परंतु रहते एक ही स्थान पर थे) आदि को साहस के अलावा अन्य सभी मामलों में निर्णय लेने का अधिकार था जो राजा द्वारा दिया गया था। मिताक्षर के अनुसार कुल के निर्णय के खिलाफ श्रेणी में अपील की जा सकती थी और उसके बाद पुग में। पुग के निर्णय के बाद राजा के पास अपील की जाती थी और यह विजनेश्वर, जो मिताक्षर के रचयिता हैं, नारद स्मृति के आधार पर बताते हैं।

याज्ञवल्क्य (II.8) और बृहस्पति (I.17) के मतानुसार कानूनी प्रक्रिया की चार श्रेणियाँ या पद थे जैसे : अर्ज़ीदावा (भासा-पद), जवाब (उत्तर-पद) साक्ष्य (क्रिया पद) और निर्णय (निर्णय पद)। कौटिल्य के मुताबिक भ्रष्ट न्यायाधीशों के लिए जुर्माना व शारीरिक सजा की व्यवस्था थी। याज्ञवल्क्य, नारद और कात्यायन ने भ्रष्ट सभ्यों (सहयोगी न्यायाधीशों) के लिए कठोर दंड बताए हैं।

स्मृति लेखकों द्वारा व्यापक न्यायिक प्रक्रिया का विवरण दिया गया है। साधारण स्मृति नियमों के मुताबिक जो सबसे पहले अदालत में लिखित अर्ज़ी के साथ जाता है वह याचिकाकर्ता (मुद्दई) होता है। बचाव पक्ष द्वारा जवाब दाखिल किए जाने से पहले कभी भी अर्ज़ी दावे में संशोधन किया जा सकता था। नारद ने मुद्दई को अधिकार दिया है कि वह बचाव पक्ष पर चार प्रकार के कानूनी प्रतिबंध लगाए, जिसके अंतर्गत कुछ प्रक्रियाएँ हैं जैसे : निर्णय से पहले गिरफ्तारी या अंतरिम आदेश जब तक राजा तलब न करे ताकि बचाव-पक्ष फरार न हो सके। मुद्दई के दावे के आधार पर बचाव-पक्ष को अपना उत्तर देना पड़ता है। नारद के मुताबिक उत्तर चार प्रकार के हो सकते हैं जैसे : अस्वीकार करना, स्वीकार करना, विशेष निवेदन और फैसले से पूर्व का निवेदन। बचाव पक्ष से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अपना जवाब उसी दिन दे दे, लेकिन खास परिस्थितियों में उसे अपना जवाब दाखिल करने के लिए कुछ समय दिया जाता था। मुद्दई तथा बचाव-पक्ष के बयानों को दर्ज़ करने के बाद साक्ष्य को अदालत के सम्मुख लाया जाता था। सबूत दो प्रकार के होते थे – मानवीय व दैवीय। मानवीय साक्ष्यों में गवाह तथा दस्तावेज़ आते थे। दैवीय साक्ष्य दैवीय सत्य-परीक्षा के रूप में होते थे।

इस बात का उल्लेख किया गया है कि दैवीय सत्य परीक्षा तभी उपयोग में लाई जानी चाहिए जब मानवीय साधन उपलब्ध न हों तथा संभव न हों। बृहस्पति ने इन शब्दों में साक्ष्यों से संबंधित कार्यप्रणाली के विस्तृत नियमों के बारे में बताया है 'गवाह अनुमान पर हावी होता है,' अंत में दस्तावेज़ गवाहों पर हावी होते हैं। तीन पीढ़ियों द्वारा बिना अवरोध के स्वामित्व दोनों पर हावी होता है। अंत में पक्षों को अदालत से जाने के लिए कहा जाता था ताकि साक्ष्यों के आधार पर सभ्य विचार-विमर्श कर सकें। विजयी पक्ष को लिखित प्रमाण मिलता था जिसे जयपत्र कहा जाता था, जबकि हारे हुए पक्ष को शास्त्र के मुताबिक राजा दंडित करता था। कुछ जयपत्रों में राजा की मुहर लगती थी, जबकि कुछ में मुख्य न्यायाधीश की। मिताक्षर के अनुसार जयपत्र वह फैसला था जिसमें मुद्दई के मामले का सारांश होता था, उसका जवाब होता था, साक्ष्य होते थे और निर्णय होता था। जब मुद्दई हारता था तो दस्तावेज़ हीनपत्र कहलाता था।

18.5 सारांश

ऐसा प्रतीत होता है कि सामाजिक व्यवस्था को नियमों के द्वारा नियंत्रित किया जाता था जिसे धर्म कहते थे। कानून को प्रगतिशील बनाने में रीतियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस तरह इसमें समय-समय पर परिवर्तन हुए जिससे कि कानून से संबंधित नियमों तथा बदलती सामाजिक परिस्थितियों तथा ज़रूरतों के बीच के अंतर को पाटा जा सके। सिद्धांत व व्यवहार के मसले पर जब संघर्ष की स्थिति आती थी तो व्यावहारिक मसले को महत्त्व दिया जाता था। धर्म के नियम सुझाव के रूप में थे परन्तु अनिवार्य नहीं थे।

18.6 अभ्यास

1) कानून के स्रोतों एवं इसकी विभिन्न श्रेणियों के बारे में संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

2) प्राचीन भारत में प्रचलित न्यायिक व्यवस्था की विवेचना करें।